



वीतराग-विज्ञान (मार्च-मासिक) * 26 फरवरी 2010 • वर्ष 28 • अंक 8

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

३८ वीं गाथा की टीका के अन्त में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मालिनी)

जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसारः
सकलविलयदूरः प्रास्तदुर्वारमारः ।
दुरिततरुकुठारः शुद्धबोधावतारः
सुखजलनिधिपूरः क्लेशवाराशिपारः ॥५४॥

(रोला)

सकलविलय से दूर पूर सुखसागर का जो ।
क्लेशोदधि से पार शमित दुर्वारमार जो ॥
शुद्धज्ञान अवतार दुरिततरु का कुठार जो ।
समयसार जयवंत तत्त्व का एक सार जो ॥५४॥

जो सर्वतत्त्वों में सारभूत तत्त्व है, नाशवान भावों से दूर है, दुर्वार कामभाव का नाशक है, पापरूपी वृक्षों के छेदनेवाला कुठार है, शुद्धज्ञान का अवतार है, सुखसागर की बाढ है और जो क्लेशरूपी सागर का किनारा है; वह समयसार अर्थात् शुद्धात्मा जयवंत वर्तता है ।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“सात तत्त्वों में शुद्धजीवतत्त्व एक ही सार है, अन्य कोई सार नहीं है। संवर, निर्जरा, मोक्ष साररूप नहीं है, कारण कि वे एकसमय की पर्याय हैं, उनके लक्ष से राग की उत्पत्ति होती है, अतः वे सार नहीं हैं। परमपरिणामिकभाववाला जीवतत्त्व एक ही सार है।”

औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक - ये सभी नाशवान भाव हैं; उनसे शुद्धात्मा दूर है। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव तो नाश को प्राप्त होते हैं; किन्तु क्षायिकभाव को भी नाशवान कहने का कारण यह है कि केवलज्ञान अथवा सिद्धदशा की पर्यायें भले ही प्रवाहरूप से सादि-अनन्तकाल

१. नियमसार प्रवचन : आत्मधर्म जनवरी, १९७९, पृष्ठ १७

तक रहें तो भी एक पर्याय का काल तो एक समय का ही है। एक समय में एक, दूसरे समय में दूसरी, इसप्रकार पर्याय प्रतिसमय पलटती रहती है; इसलिए नाशवान है - ऐसा कहा है। परमपारिणामिकभाव एकरूप अनादि-अनन्त रहता है, इसलिए क्षायिकादि चार भावों से शुद्धात्मा दूर है - ऐसा कहा है।^१

काम=परपदार्थ की इच्छा। त्रिकालीशुद्ध आत्मा का आश्रय लेने से पर की तरफ के झुकाव का नाश हो जाता है, ध्रुवस्वभाव के आश्रय से कार्य होता है; ऐसा कहकर शुद्धध्रुवस्वभाव की महिमा बतलाते हैं।^२

जिसप्रकार कुठार वृक्ष को मूल से छेदता है, उसीप्रकार शुद्धचैतन्य-स्वभाव का आश्रय लेने से मिथ्यात्वादिरूप पाप मूल से उखड़ जाते हैं और पुनः नहीं उगते।^३

शुद्धस्वभाव के आश्रय से नवीन यथार्थज्ञान प्रकट होता है, मानो चैतन्य का पिण्ड आत्मा नया जन्मा हो; ऐसा कहकर शुद्धचैतन्यत्रिकाली स्वभाव को ही शुद्धज्ञान का अवतार कहा है।^४

परमपारिणामिकभाववाले निजकारणपरमात्मा की दृष्टि करने से अविनाशी सुख प्रकट होता है।^५ और शुद्धचैतन्यस्वभाव का आश्रय लेने पर पर्यायबुद्धिरूपी क्लेश का अन्त आ जाता है।^६

कथन का सार यह है कि निमित्त की, शुभराग की, एक समय की निर्मलपर्याय की पर्यायबुद्धि छोड़ और त्रिकालीशुद्धस्वभाव की रुचि करके स्वभावबुद्धि कर।^७

उक्त छन्द में समयसाररूप निज भगवान आत्मा को सभी तत्त्वों का सार, सम्पूर्ण क्षणिकभावों से दूर, सभी प्रकार की इच्छाओं से रहित, पापरूपी वृक्षों के लिए कुठार के समान घातक, शुद्धज्ञान का अवतार, सभीप्रकार के कष्टों के सागर से पार और आनन्दरूपी जलनिधि का पूर कहा गया है।

नियमसार गाथा ३९

विगत गाथा में जीवादि बाह्य तत्त्वों को हेय और कर्मोपाधि से निरपेक्ष शुद्धात्मा को उपादेय कहा गया है और अब आगामी गाथाओं में यह स्पष्ट करेंगे कि उक्त आत्मा में क्या-क्या नहीं है।

निर्विकल्पतत्त्व का स्वरूप बतानेवाली ३९वीं गाथा इसप्रकार है -

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा ।

णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा ॥३९॥

१. नियमसार प्रवचन : आत्मधर्म जनवरी-१९७९, पृष्ठ १७ २. वही, पृष्ठ १८ ३. वही, पृष्ठ १८
४. वही, पृष्ठ १८ ५. वही, पृष्ठ १८ ६. वही, पृष्ठ १८ ७. वही, पृष्ठ १८

(हरिगीत)

अरे विभाव स्वभाव हर्षाहर्ष मानपमान के।

स्थान आतम में नहीं ये वचन हैं भगवान के॥३९॥

वस्तुतः जीव में न तो स्वभाव स्थान (विभावस्वभाव के स्थान) हैं, न मानापमान भाव के स्थान हैं और न हर्ष-अहर्ष के स्थान हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह निर्विकल्पतत्त्व के स्वरूप का कथन है। त्रिकाल निरुपाधि स्वरूपवाले शुद्धजीवास्तिकाय के विभावरूप स्वभाव के स्थान नहीं हैं; प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से मानापमान के हेतुभूत कर्मोदय के स्थान नहीं हैं; शुभपरिणति का अभाव होने से शुभकर्म नहीं हैं, शुभकर्म का अभाव होने से सांसारिक सुख नहीं है और सांसारिक सुख का अभाव होने से हर्षस्थान नहीं है तथा अशुभपरिणति का अभाव होने से अशुभकर्म नहीं है, अशुभकर्म का अभाव होने से दुख नहीं है और दुख का अभाव होने से अहर्ष के स्थान नहीं हैं।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“शुद्धजीव कहो, निरुपाधिस्वभाव कहो, परमपारिणामिकभाव कहो, कारण-परमात्मा कहो, द्रव्यस्वभाव कहो, शुद्धचैतन्य ध्रुवस्वभाव कहो - यह सब एक ही अर्थ के वाचक हैं। जीव के शुद्धस्वरूप में राग-द्वेषादि की उपाधि नहीं है, वह तीनों काल निरुपाधिस्वभाववाला है।^१

यहाँ विभाव को स्वभाव कहने का कारण यह है कि जीव स्वतंत्रपने से पर्याय में विभाव करता है; उस समय की पर्याय का वह स्वभाव है - ऐसा बतलाने के लिए उसे स्वभाव कहा है। यदि शुद्धस्वभावदृष्टि से देखा जावे तो शुद्धस्वभाव में विभाव का अभाव है। शुद्धस्वभाव में विभाव प्रविष्ट हो तो त्रिकालीस्वभाव ही विभावरूप हो जाय और शुद्ध होने का कभी अवसर ही प्राप्त न हो। विभाव व्यवहार है, उसे गौण करके अभूतार्थ कहकर स्वभाव में उसका अभाव बतलाकर स्वभाव का आदर करने के लिए कहा गया है।^२

संसारी जीव की पर्याय में एकसमय जितना मोह-राग-द्वेष का परिणाम है, किन्तु स्वभावदृष्टि से देखा जाय तो शुद्धस्वभाव में उनका अभाव है। जिस भाव से

१. नियमसार प्रवचन : आत्मधर्म फरवरी, १९७९, पृष्ठ ९

२. वही, पृष्ठ ९

तीर्थकर पुण्यप्रकृति बंधती है, उस भाव का भी शुद्धस्वभाव में अभाव है। स्वभाव में मोह-राग-द्वेष का अभाव है, इसलिए मान-अपमान के हेतुभूत कर्मोदय के स्थान नहीं हैं। जिससमय मान-अपमान की पर्याय है, उसीसमय त्रिकालशुद्धस्वभाव मान-अपमान रहित पड़ा हुआ है। अतः अन्तर्मुख रुचि करके अपने शुद्धात्मा की ऐसी दृढता कर कि जिससे दूसरी वस्तु का तुझे अभिमान न हो। यहाँ पुण्य-पाप का अभिमान छोड़कर स्वभाव की रुचि कराते हैं।^१

दया, दान, भक्ति, पूजा, स्वाध्याय, पंचमहाव्रतादि का भाव शुभ-परिणति है। जीव की एक समय की पर्याय में शुभपरिणति होती है। यदि स्वभावदृष्टि से देखा जाय तो शुद्धजीव के शुभपरिणति का अभाव है। शुभपरिणति का अभाव होने से शुभकर्म का भी जीव में अभाव है।

शुद्धजीव में तो शुभपरिणति नहीं, कर्म भी नहीं, संसार-सुख नहीं तथा हर्ष की कल्पना भी नहीं। शुद्धस्वभाव तो इन सभी से रहित है।^२

जीव अपने स्वभाव को चूककर काम, क्रोध, शोकादि के भाव पर्याय में करता है; किन्तु शुद्धात्मा में तो उनका अभाव है। इसीकारण अशुभकर्म का भी अभाव है। अशुभकर्म नहीं होने से उनकी तरफ का दिलगीरी का (दुःख का) भाव भी नहीं है।

इसप्रकार निर्णय करने के पश्चात् वे सभी भाव शुद्धस्वभाव में नहीं है - ऐसा कहकर पर्यायदृष्टि छुड़ाई है और द्रव्यदृष्टि कराई है।^३

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा में न तो विभावस्वभाव के स्थान हैं, न मानापमान के स्थान हैं, न हर्ष और अहर्ष भाव के स्थान हैं। वह तो इन सबसे भिन्न त्रिकाली ध्रुवतत्त्व है, ज्ञानानन्दस्वभावी परमपदार्थ है; उसके आश्रय से ही मुक्ति-मार्गरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।

टीका के अन्त में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुख-
निर्भेदोदितशर्मनिर्मितवियद्विंबाकृतावात्मनि ।
चैतन्यामृतपूरपूर्णवपुषे प्रेक्षावतां गोचरे
बुद्धिं किं न करोषि वांछसि सुखं त्वं संसृतेर्दुःकृतेः ॥५५॥

१. नियमसार प्रवचन : आत्मधर्म फरवरी, १९७९, पृष्ठ १०

२. वही, पृष्ठ ११

३. वही, पृष्ठ १३

(रोला)

चिदानन्द से भरा हुआ नभ सम अकृत जो ।
 राग-द्वेष से रहित एक अविनाशी पद है ॥
 चैतन्यामृत पूर चतुर पुरुषों के गोचर ।
 आतम क्यों न रुचे करे भोगों की वांछा ॥५५॥

हे आत्मन् ! तू ऐसे आत्मा की रुचि क्यों नहीं करता; जो प्रीति और अप्रीति से रहित शाश्वत पदरूप है, जो पूर्णतः अन्तर्मुख और प्रगट प्रकाशमान सुख से बना हुआ है; जो आकाश के समान अकृत (जिसे किसी ने नहीं बनाया - ऐसा) तत्त्व है, चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ है और विचारवान चतुर पुरुषों द्वारा अनुभूत है? ऐसे भगवान आत्मा के होते हुए भी हे आत्मन् ! तू पापरूप सांसारिक सुखों की वांछा क्यों करता है ?

अनादिकाल से यह आत्मा परपदार्थों में अपनापन स्थापित करके, उन्हीं में रचा-पचा रहा है। अब सैनी पंचेन्द्रिय होकर, मनुष्य भव पाकर, जैनकुल में जन्म लेकर, जिनागम का अभ्यास करके भी, सद्गुरुओं के द्वारा बार-बार समझाये जाने पर भी; उन्हीं पापरूप सांसारिक सुखों की वांछा करता है, उन्हें प्राप्त करने के लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है।

यही कारण है कि विषय-कषाय से अत्यन्त विरक्त मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव करुणा से विगलित होकर कह रहे हैं कि हे सुखाभिलाषी भव्यजनों ! तुम ज्ञानी धर्मात्माओं द्वारा अनुभूत उस शुद्धात्मा की भावना क्यों नहीं करते; जो अनंत शाश्वत सुख का सागर है, सदा प्रकाशमान है, अनादि-अनंत है, चैतन्यामृत से लबालब है?

इस विषय-कषाय की भावना से तुझे क्या मिलनेवाला है ?

नियमसार गाथा ४०

विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि आत्मा में विभावभाव के स्थान नहीं हैं, मानापमान के स्थान नहीं हैं और हर्षाहर्षभाव के स्थान भी नहीं हैं; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि उक्त आत्मा में बंध व उदय के स्थान भी नहीं हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

गो ठिदिबंधट्टाणा पयडिट्टाणा पदेसठाणा वा ।
 गो अणुभागट्टाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा ॥४०॥

(हरिगीत)

स्थिति अनुभाग बंध एवं प्रकृति परदेश के।

अर उदय के स्थान आतम में नहीं ह्व यह जानिये॥४०॥

जीव के न तो स्थितिबंधस्थान है, न प्रकृतिबंधस्थान हैं, न प्रदेशस्थान हैं, न अनुभाग स्थान हैं और न उदयस्थान ही हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध के स्थानों का तथा उदय के स्थानों का समूह जीव के नहीं है - यह कहा गया है।

सदा ही जिसका स्वरूप उपराग रहित है - ऐसे निरंजन निज-परमात्मतत्त्व के; द्रव्यकर्म के जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्थान नहीं है। ज्ञानावरणादि अष्टविधकर्मों के, उस-उस कर्म के योग्य पुद्गलद्रव्य का आकार प्रकृतिबंध है; उस प्रकृति बंध के स्थान भी जीव के नहीं है। अशुद्ध आत्मा और कर्मपुद्गल के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश प्रदेशबंध है; इस प्रदेशबंध के स्थान भी जीव के नहीं हैं। शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा के समय सुख-दुखरूप फल देने की सामर्थ्य ही अनुभाग बंध है; इस अनुभागबंध के स्थान भी जीव के नहीं हैं।

जिसप्रकार बंध के उक्त स्थान जीव के नहीं है; उसीप्रकार द्रव्यकर्म और भावकर्मों के उदय के स्थान भी जीव के नहीं हैं।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ जो जीव कहा है, वह द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जो प्रमाण का विषय होता है, वह जीव नहीं लेना है, विकारीपर्यायवाला अथवा निमित्त के संबंधवाला जीव भी नहीं लेना है; किन्तु विकार से रहित एकरूप त्रिकाली शुद्धभाववाला जीव लेना है। ऐसे जीव की यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान करके अपने त्रिकालीस्वभाव की ओर ढले तो उस जीव को विकार का अथवा पर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है और इसप्रकार दोनों पक्षों का ज्ञान होने पर सम्पूर्ण जीव का ज्ञान यथार्थ होता है; वही ज्ञान प्रमाणज्ञान है।

इस गाथा में प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध, प्रदेशबंध के स्थानों का तथा उदय के स्थानों का समूह जीव के नहीं है - ऐसा कहा है।^१ द्रव्यकर्म अर्थात्

१. नियमसार प्रवचन : आत्मधर्म मार्च, १९७९, पृष्ठ १५

ज्ञानावरणादि जड़कर्मों का उदय तथा उस ओर के लक्ष से होनेवाली पर्याय की हीनता एवं राग-द्वेषादि को भावकर्म का उदय कहते हैं।^१

यहाँ गाथा में कहा कि प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध, प्रदेशबंध, जड़कर्म के उदय के ऊपर का तथा उसप्रकार की एकसमय की पर्याय की योग्यता के ऊपर का भी लक्ष छोड़कर शुद्धजीवतत्त्व का लक्ष कर तो धर्मदशा प्रगट होगी।^२”

इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग - इन चारों बंधों के स्थान व कर्मों के उदय के स्थान शुद्ध जीव में नहीं हैं।

तात्पर्य यह है कि कर्मों के बंध व उदय में होनेवाली आत्मा की अवस्थायें भी वह आत्मा नहीं है कि जिस आत्मा के आश्रय से मुक्तिमार्ग प्रगट होता है, मुक्ति की प्राप्ति होती है।

टीकाकार मुनिराज टीका के उपरान्त ‘आचार्य अमृतचन्द्र भी कहते हैं’ - ऐसा कहकर आचार्य अमृतचन्द्र कृत एक छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है -

(मालिनी)

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥१७॥^३
(हरिगीत)

पावें न जिसमें प्रतिष्ठा बस तैरते हैं बाह्य में।
ये बद्धस्पृष्टादि सब जिसके न अन्तरभाव में॥
जो है प्रकाशित चतुर्दिक् उस एक आत्मस्वभाव का।
हे जगतजन ! तुम नित्य ही निर्मोह हो अनुभव करो ॥

ये बद्धस्पृष्टादि पाँच भाव जिस आत्मस्वभाव में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं करते, मात्र ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं और जो आत्मस्वभाव चारों ओर से प्रकाशमान है अर्थात् सर्व-अवस्थाओं में प्रकाशमान है; आत्मा के उस सम्यक्स्वभाव का हे जगत के प्राणियो ! तुम मोहरहित होकर अनुभव करो।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

१. नियमसार प्रवचन : आत्मधर्म मार्च, १९७९, पृष्ठ १८

२. वही, पृष्ठ १८

३. समयसार की १४वीं गाथा की आत्मख्याति टीका में समागत कलश ११

“शुभाशुभ परिणामों का शुद्धात्मा में प्रवेश नहीं है। जैसे जल में तेल ऊपर ही तैरता है; वैसे ही आत्मा में राग-द्वेष ऊपर ही ऊपर तैरते हैं। आत्मा कर्मों से बंधा है और कर्म आत्मा के साथ एकक्षेत्र में रहते हैं, यह निमित्त-नैमित्तिक संबंध एकसमय की विकारी पर्याय के साथ है; शुद्धस्वभाव में वह विकार प्रवेश नहीं करता।

जिसप्रकार बन्द मकान में बाहर का मनुष्य प्रवेश नहीं कर सकता; उसीप्रकार एकसमय का संसार त्रिकालीस्वभाव में प्रवेश नहीं कर सकता। ज्ञान-दर्शन की हीनावस्था, राग-द्वेष की विकारी अवस्था तो एकसमय की पर्याय में है; वस्तुस्वभाव तो एकरूप सदृश अनादि-अनन्त है।

इसलिए ध्रुव पदार्थ की श्रद्धा करो, उसकी श्रद्धा करने से दृष्टि अपेक्षा से अष्टकर्मों का तथा राग-द्वेष का सर्वथा नाश हो जायेगा और वीतरागता पूर्ण होने पर राग-द्वेष का पूर्णरूपेण अभाव होकर आठ कर्मों का नाश हो जायेगा। त्रिकालशक्ति जो भरी है, उसमें से केवलज्ञान प्रगट होगा। अतः ऐसे शुद्ध स्वभाव का अनुभव करो।^१”

उक्त छन्द में शुद्धनय के विषयभूत बद्धस्पृष्टादि पाँच भावों से रहित, अपनी समस्त अवस्थाओं में प्रकाशमान सम्यक् आत्मस्वभाव के अनुभव करने की प्रेरणा दी गई है और यह भी कहा गया है कि शुद्धनय के विषयभूत इस भगवान आत्मा के अतिरिक्त जो बद्धस्पृष्टादि पाँच भाव हैं, उनसे एकत्व का मोह तोड़ो, उन्हें अपना मानना छोड़ो।

इसके उपरान्त एक अनुष्टुप और एक वसंततिलका इसप्रकार दो छन्द मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं लिखते हैं; जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है -

(अनुष्टुप्)

नित्यशुद्धचिदानन्दसंपदामाकरं परम् ।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम् ॥५६॥

(दोहा)

चिदानन्द निधियाँ बसें मुझमें नेकानेक ।
विपदाओं का अपद मैं नित्य निरंजन एक ॥५६॥

जो नित्यशुद्धचिदानन्दरूप सम्पदा का आकर (भंडार-खान) है तथा जो विपत्तियों

१. नियमसार प्रवचन : आत्मधर्म मार्च, १९७९, पृष्ठ १९

का अत्यन्त अपद है अर्थात् जिसमें विपत्तियों का अभाव है, उसी आत्मपद का मैं अनुभव करता हूँ।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“शुद्ध आत्मपद ज्ञान और आनन्दरूपी सम्पदा की खान है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता करने से ज्ञान और आनन्द की पर्यायें प्रवाहित होती हैं, जो कभी विनष्ट नहीं होतीं, उसमें किसी भी जाति की विपदा नहीं है; अतः शुद्धपद एक ही शरण है। पैसा, मकान, स्त्री, पुत्रादि कोई भी शरण नहीं, क्योंकि मरण समय में वे कोई भी सहायक नहीं होते; किन्तु यदि शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान, एकाग्रता जीव में की हो तो वही शरणरूप है। शुद्धस्वभाव में विकार का अभाव है, संसार अथवा विकार एक समय की पर्याय में है, किन्तु त्रिकालीस्वभाव में वह नहीं है। मुनिराज छटवी-सातवीं भूमिका में झूलते थे। वे कहते हैं कि मैं इस शुद्धपद का ही अनुभव करता हूँ।”

उक्त छन्द में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि जिसमें सभी प्रकार की विपत्तियों का अभाव और सभीप्रकार की संपदाओं का सद्भाव है - ऐसे शुद्ध-चिदानन्दस्वरूप आत्मा का मैं नित्य अनुभव करता हूँ। तात्पर्य यह है कि आप भी हमेशा इसी आत्मा का अनुभव करो।

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(वसंततिलका)

यः सर्वकर्मविषभूरुहसंभवानि
मुक्त्वा फलानि निजरूपविलक्षणानि ।
भुंक्तेऽधुना सहजचिन्मयमात्मतत्त्वं
प्राप्नोति मुक्तिमचिदारिति संशयः कः ॥५७॥

(वसंततिलका)

निज रूप से अति विलक्षण अफल फल जो ।
तज सर्व कर्म विषवृक्षज विष-फलों को ॥
जो भोगता सहजसुखमय आत्मा को ।
हो मुक्तिलाभ उसको संशय न इसमें ॥५७॥

१. नियमसार प्रवचन : आत्मधर्म मार्च, १९७९, पृष्ठ १९

निजरूप से विलक्षण, सभीप्रकार के शुभाशुभकर्मरूपी विषवृक्षों से उत्पन्न होनेवाले विषफलों को छोड़कर जो जीव इसी समय, सहज चैतन्यमय आत्मतत्त्व को भोगता है; वह जीव अल्पकाल में मुक्ति को प्राप्त करता है। - इसमें क्या संशय है अर्थात् इसमें रंचमात्र भी संशय नहीं है।

गुरुदेव श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अस्तित्वादि अनन्त गुणों का भंडार है। वे अनन्त गुण आत्मा में अभेद हैं, अखण्ड हैं, नित्य हैं। जो जीव उनका अभेदरूप से अनुभव करता है, वह अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त होता है।”

उक्त छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की गई है कि जो पुरुष शुभाशुभकर्मों से विरक्त होकर चैतन्यमय निज आत्मतत्त्व की आराधना करता है; वह अल्पकाल में मुक्ति की प्राप्ति करता है।

साथ में वे यह भी कहते हैं कि उक्त कथन परमसत्य है, इसमें रंचमात्र भी शंका-आशंका की गुंजाइश नहीं है।

नियमसार गाथा ४१

विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि आत्मा में बंध व उदय के स्थान नहीं है; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि आत्मा में उपशम, क्षयोपशम, क्षय और उदयभावों के स्थान भी नहीं हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

णो खड्यभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा ।

ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा ॥४१॥

(हरिगीत)

इस जीव के क्षायिक क्षयोपशम और उपशम भाव के।

एवं उदयगत भाव के स्थान भी होते नहीं ॥४१॥

इस जीव के न तो क्षायिकभाव के स्थान हैं और न क्षयोपशम स्वभाव के स्थान हैं, न औदयिकभाव के स्थान हैं और न उपशम स्वभाव के स्थान हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह चार विभावस्वभावों के कथन के द्वारा पंचमभाव के स्वरूप का कथन

है। कर्मों के क्षय से होनेवाले भाव क्षायिकभाव हैं; कर्मों के क्षयोपशम से होनेवाले भाव क्षयोपशमभाव हैं; कर्मों के उदय से होने वाले भाव औदयिक भाव हैं; कर्मों के उपशम से होनेवाले भाव औपशमिक भाव हैं और सम्पूर्ण कर्मोपाधि से विमुक्त परिणाम से होने वाले भाव पारिणामिकभाव हैं।

इन पाँच भावों में औपशमिकभाव के दो, क्षायिकभाव के नौ, क्षयोपशमभाव के अठारह, औदयिकभाव के इक्कीस और पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं।

उपशम सम्यक्त्व और उपशमचारित्र के भेद औपशमिक भाव दो प्रकार के हैं।

क्षायिकसम्यक्त्व, यथाख्यातचारित्र, केवलज्ञान, केवलदर्शन और अन्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होनेवाले क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक-उपभोग और क्षायिकवीर्य - इसप्रकार क्षायिकभाव नौ प्रकार के हैं।

मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय - ये चार प्रकार के ज्ञान; चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन - ये तीन प्रकार के दर्शन; काललब्धि, करणलब्धि, उपदेशलब्धि, उपशमलब्धि और प्रायोग्य-लब्धि के भेद से पाँच लब्धियाँ और वेदकसम्यक्त्व, वेदकचारित्र और संयमासंयमपरिणति - इसप्रकार क्षायोपशमिकभाव अठारह प्रकार के हैं।

नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगति - ये चार गतियाँ; क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय और लोभकषाय - ये चार कषायें; स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग - ये तीन लिंग; सामान्यसंग्रहनय की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन एक, अज्ञान एक और असंयम एक, असिद्धत्व एक; शुक्ललेश्या, पद्मलेश्या, पीतलेश्या, कापोतलेश्या, नीललेश्या और कृष्णलेश्या - ये छह लेश्यायें ह्व इसप्रकार औदयिकभाव इक्कीस प्रकार के होते हैं।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - इसप्रकार पारिणामिकभाव तीन प्रकार के हैं।

जीवत्वपारिणामिकभाव भव्यों तथा अभव्यों - सभी के होता है; भव्यत्व-पारिणामिकभाव भव्यों के ही होता है और अभव्यत्व-पारिणामिकभाव अभव्यों के ही होता है।

इसप्रकार पाँच भावों का कथन किया।

पाँच भावों में क्षायिकभाव कार्यसमयसारस्वरूप है; वह त्रिलोक में प्रक्षोभ के हेतुभूत तीर्थकरत्व द्वारा प्राप्त होनेवाले सकल-विमल केवलज्ञान से युक्त तीर्थनाथ के, उपलक्षण से सामान्य केवली के तथा सिद्धभगवान के होता है। औदयिक,

औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव संसारियों के ही होते हैं, मुक्त जीवों के नहीं। पूर्वोक्त चार भाव आवरणसंयुक्त होने से मुक्ति के कारण नहीं हैं। त्रिकालनिरुपाधि स्वरूप निरंजन निज परमपंचमभाव (परमपारिणामिक-भाव) की भावना से पंचमगति में मुमुक्षु जाते हैं, जायेंगे और गये हैं।^१

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ तो कहते हैं कि औदयिकभाव का नाश होने पर प्रगट होनेवाले क्षायिक भाव का भी अवलम्बन करने योग्य नहीं है; क्योंकि वह भी एक समय की पर्याय है, नवीन प्रगट होती है, कर्मक्षय की अपेक्षा रखती है, उसके लक्ष से राग होता है-धर्म नहीं होता।^२

उपशमभाव आत्मा की निर्मल पर्याय होने पर भी वह आत्मा में से निकल जाता है; क्योंकि आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। पर्याय के लक्ष से राग उत्पन्न होता है तथा अधूरी निर्मल पर्याय में से दूसरी निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। निर्मलता प्रगटने का एकमात्र कारण परमपारिणामिकभाव है। अतः शुद्धजीव का लक्ष कराने के लिए जीव के उपशमरूप स्वभाव भाव के स्थान नहीं हैं - ऐसा कहा है।^३

यहाँ सकल कर्मोपाधि से विमुक्त का अर्थ ‘कर्म से छूटा हुआ’ मत समझना; यहाँ तो जिस भाव में कर्मों की अपेक्षा ही नहीं है, उसे विमुक्त कहा है।^४

जैसा त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है, वैसा ही जो परिणमे; उसको पारिणामिकभाव कहते हैं। त्रिकाली द्रव्य शुद्ध, गुण शुद्ध और पर्याय भी शुद्ध; उस सहित जो है, उसे कारणपरमात्मा कहते हैं। स्वभाव गुण-पर्यायों से संयुक्त और त्रिकाल निरावरण निरंजन परमात्मा है; वैसे परमात्मा के एकरूप रहनेवाले शुद्धभाव को परमपारिणामिक-भाव कहते हैं।^५

औदयिकादिभाव पर्याय के हैं, त्रिकाली स्वभाव के वे भाव नहीं हैं। परम-पारिणामिकभाव इन चार भावों से रहित है। जो द्रव्य का भाव है; त्रिकाल एकरूप शुद्धभाव है; उसके बताने का हेतु यह है कि औदयिकादि चारों भाव तो अनित्य हैं, उनके लक्ष से रागोत्पत्ति होती है; अतः उन चारों अनित्य भावों का लक्ष्य छुड़ाकर नित्य परमपारिणामिकभाव का लक्ष्य कराया गया है।^६

१. नियमसार प्रवचन : आत्मधर्म अप्रैल, १९७९, पृष्ठ १६

२. वही, पृष्ठ १७

३. वही, पृष्ठ १७

४. वही, पृष्ठ १७

५. वही, पृष्ठ १७

पाँच भावों में क्षायिकभाव, कार्यसमयसाररूप है। आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है; उसमें श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करने से जो अन्तरशक्ति व्यक्त हुई है, उस पूर्ण निर्मल व्यक्तदशा को कार्यसमयसार कहते हैं।^१

उदय, उपशम, क्षयोपशम भाव क्षणिक पर्यायें हैं, उनके अवलम्बन से धर्म नहीं होता और क्षायिकभाव के लक्ष से भी राग की उत्पत्ति होती है, इसलिए उनके ऊपर से भी लक्ष छोड़ देना चाहिए। इन चारों में से कोई भी अवलम्बन लेने योग्य नहीं है।^२

जो मुमुक्षु अर्थात् पंचमभाव की भावना वाले जीव शुद्ध चिदानन्द स्वरूप को भाते हैं; वे वर्तमानकाल में महाविदेहक्षेत्र से मोक्ष जाते हैं, भविष्य में भी जायेंगे और भूतकाल में भी गये हैं।^३”

इस गाथा में मूल बात तो मात्र यही कही गई है कि भगवान आत्मा में न तो औपशमिकभाव हैं, न क्षायोपशमिकभाव हैं, न क्षायिकभाव हैं और न औदयिक भाव ही हैं; वह तो परमपारिणामिक-भावस्वरूप ही है।

टीका में उक्त पाँचों भावों के ५ भेद गिना कर यह स्पष्ट कर दिया है कि एक जीवत्व नामक परमपारिणामिकभाव को छोड़कर शेष ५२ भाव आत्मा में नहीं हैं। अन्त में कह दिया कि मुक्ति की प्राप्ति तो एकमात्र परमपारिणामिकभाव के आश्रय से ही होती है।

जानने योग्य विशेष बात यह है कि इस गाथा की टीका में १८ प्रकार के क्षायोपशमिक भावों में समागत पाँच लब्धियों के जो नाम गिनाये गये हैं; वे आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र पर आचार्य अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक वार्तिक से मिलते नहीं हैं।

यहाँ नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में १८ प्रकार के क्षायोपशमिक भावों में काललब्धि, करणलब्धि, उपदेश (देशना) लब्धि, उपशमलब्धि और प्रायोग्यलब्धि के रूप में पाँच लब्धियों को लिया है; जबकि तत्त्वार्थराजवार्तिक के दूसरे अध्याय के पाँचवें सूत्र के सातवें वार्तिक में क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिकदान - इनको पाँच लब्धि के रूप में लिया गया है।^४

उपशम सम्यग्दर्शन के पूर्व होनेवाली पाँच लब्धियों में इसप्रकार के भेद अवश्य पाये जाते हैं; किन्तु उक्त प्रकरण का यहाँ कोई प्रसंग नहीं है।

१. नियमसार प्रवचन, आत्मधर्म मई, १९७९, पृष्ठ १३

२. वही, पृष्ठ १३

३. वही, पृष्ठ १३

४. तत्त्वार्थराजवार्तिक : अध्याय २, सूत्र ५ का ८वाँ वार्तिक

दूसरी बात यह है कि वहाँ जो नाम प्राप्त होते हैं, ये नाम पूरी तरह उनसे भी नहीं मिलते। वहाँ प्राप्त होनेवाले नाम इसप्रकार हैं - क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि।^१

नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में समागत पाँच लब्धियों में क्षयोपशमलब्धि और विशुद्धिलब्धि प्राप्त नहीं होती। उनके स्थान पर काललब्धि और उपशमलब्धि है।

यदि काललब्धि को क्षयोपशमलब्धि और उपशमलब्धि को विशुद्धिलब्धि माने तो भी दोनों कथनों में क्रम का अन्तर तो है ही।

टीका के अन्त में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं। उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है -

(आर्या)

अंचितपंचमगतये पंचमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः ।

संचितपंचाचाराः किंचनभावप्रपंचपरिहीणाः ॥५८ ॥

(दोहा)

विरहित ग्रंथ प्रपंच से पंचाचारी संत।

पंचमगति की प्राप्ति को पंचमभाव भजंत ॥५८ ॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यरूप पंचाचारों से युक्त एवं सम्पूर्ण परिग्रह के प्रपंच से रहित विद्वान (मुनिराज) पूज्यनीय पंचमगति को प्राप्त करने के लिए पंचमभावरूप परमपारिणामिकभाव का स्मरण करते हैं; उसी को निजरूप जानते हैं, उसमें ही अपनापन स्थापित करते हैं और उसी का ध्यान करते हैं।

उक्त छन्द का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी विद्वान शब्द का अर्थ इसप्रकार करते हैं -

“परमपारिणामिकस्वभावरूप त्रिकालीशुद्धनित्यस्वभाव का जिसको भान है और उस स्वभाव के आश्रय से ही मोक्षदशा प्रगट होती है - ऐसा जो मानता है तथा जो उस मोक्षगति की प्राप्ति के लिए शुद्धस्वभाव को भजता है; उसे विद्वान कहते हैं।”

ध्यान रहे इस छन्द में विद्वान शब्द का प्रयोग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न मुनिराजों के अर्थ में किया गया है; क्योंकि पंचाचारों से सम्पन्न और सभी प्रकार के परिग्रहों से रहित मुनिराज ही होते हैं। (क्रमशः)

१. गोम्मटसार : जीवकाण्ड, गाथा ६५१ २. नियमसार प्रवचन : आत्मधर्म मई, १९७९, पृष्ठ १५

वीतराग-विज्ञान (मार्च -मासिक) * 26 फरवरी 2010 • वर्ष 28 • अंक 8

